

अनेकान्तदर्शन का सांस्कृतिक आधार

भारतीय विचार परम्परामें स्पष्टतः दो धाराएँ हैं। एक धारा वेदको प्रमाण माननेवाले वैदिक दर्शनोंकी है और दूसरी वेदको प्रमाण न मानकर पुरुषानुभव या पुरुषसाक्षात्कारको प्रमाण माननेवाले श्रमण सन्तों की। यद्यपि चार्वाकदर्शन भी वेदको प्रमाण नहीं मानता किन्तु उसने आत्माका अस्तित्व जन्मसे मरण पर्यन्त ही स्वीकार किया है। उसने परलोक, पुण्य-पाप-मोक्ष जैसे आत्मप्रतिष्ठित तत्त्वोंकी तथा आत्मसंशोधक चारित्र्य आदिकी उपयोगिता स्वीकृत नहीं की है अतः अवैदिक होकर भी वह श्रमणधारामें सम्मिलित नहीं किया जा सकता। श्रमणधारा वैदिक परम्पराको न मानकर भी आत्मा, जड़भिन्न ज्ञानसन्तान, पुण्य-पाप, परलोक, निर्वाण आदिमें विश्वास रखती है अतः पाणिनिकी परिभाषाके अनुसार आस्तिक है। वेदको या ईश्वरको जगत्कर्ता न माननेके कारण श्रमणधारामें नास्तिक कहना उचित नहीं है, क्योंकि किसी एक परम्पराको न माननेके कारण यदि श्रमण नास्तिक कहे जाते हैं तो श्रमणपरम्पराको न माननेके कारण वैदिक भी मिथ्यादृष्टि आदि विशेषणोंसे पुकारे जा सकते हैं।

श्रमणधारामें सारा तत्त्वज्ञान या दर्शन विस्तार जीवनशोधन या चारित्र्यवृद्धिके लिए हुआ था। वैदिक परम्परामें तत्त्वज्ञानको ही मुक्तिका साधन माना है जबकि श्रमणधारामें चारित्र्यको। वैदिक परम्परा वैराग्य आदिसे ज्ञानको पुष्ट करती है और विचारशुद्धि करके मोक्ष मान लेती है जबकि श्रमणपरम्परा कहती है कि उस ज्ञान या विचारका कोई मूल्य नहीं जो जीवनमें न उतरे। जिसकी सुवाससे जीवन सुवासित न हो। वह ज्ञान या विचार मस्तिष्कके व्यायामसे अधिक कुछ भी महत्त्व नहीं रखते। जैन परम्परामें तत्त्वार्थसूत्रका आद्य सूत्र है—“सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गः” (तत्त्वार्थसूत्र १।१) अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यकी आत्मपरिणति मोक्षका मार्ग है। यहाँ मोक्षका साक्षात् कारण चारित्र्य है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो उस चारित्र्यके परिपोषक हैं। बौद्ध परम्पराका अष्टाङ्ग मार्ग भी चारित्र्यका ही विस्तार है। तात्पर्य यह कि श्रमणधारामें ज्ञानकी अपेक्षा चारित्र्यका ही अन्तिम महत्त्व रहा है और प्रत्येक विचार और ज्ञानका उपयोग चारित्र्य अर्थात् आत्मशोधन या जीवनमें सामञ्जस्य स्थापित करनेके लिए किया गया है। श्रमणसन्तोंने तप और साधनाके द्वारा वीतरागता प्राप्त की और उसी परमवीतरागता समता या अहिंसाकी उत्कृष्ट ज्योतिकी विश्वमें प्रचारित करनेके लिए विश्वतत्त्वोंका साक्षात्कार किया। इनका साध्य विचार नहीं, आचार था, ज्ञान नहीं, चारित्र्य था, वाग्विलास या शास्त्रार्थ नहीं, जीवन शुद्धि और संवाद था। अहिंसाका अन्तिम अर्थ है जीवमात्रमें—चाहे वह स्थावर हो या जंगम, पशु हो या मनुष्य, ब्राह्मण हो या क्षत्रिय या शूद्र, गोरा हो या काला, एतद्देशीय हो या विदेशी—देश काल शरीराकारके आवरणोंसे परे होकर समत्वदर्शन। प्रत्येक जीव स्वरूपसे चैतन्यशक्तिका अखण्ड शाश्वत आधार है। कर्म या वासनाओंके कारण वृक्ष, कीड़ा-मकोड़ा, पशु और मनुष्य आदि शरीरोंको धारण करता है पर अखण्ड चैतन्यका एक भी अंश उसका नष्ट नहीं होता वह वासना या राग द्वेषादिके द्वारा विकृत अवश्य हो जाता है। मनुष्य अपने देश-काल आदि निमित्तोंसे गोरे या काले किसी भी शरीरको धारण किए हो, अपनी वृत्ति या कर्मके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र किसी भी श्रेणीमें उसकी गणना व्यवहारमें की जाती हो, किसी भी देशमें उत्पन्न हुआ हो, किसी भी सन्तका उपासक हो, वह इन व्यावहारिक निमित्तोंसे ऊँच या नीच नहीं हो सकता। किसी वर्ण विशेषमें उत्पन्न होनेके कारण ही वह धर्मका ठेकेदार नहीं बन सकता। मानवमात्रके मूलतः समान अधिकार हैं। न केवल मानवके किन्तु पशु, कीड़े-मकोड़े, वृक्ष आदि प्राणियोंके भी। अमुक-प्रकारकी आजीविका या व्यापारके कारण वह किसी मानवाधिकारसे वंचित नहीं हो सकता। यह मानवसमत्वभावना या प्राण्यमात्र-समताकी

उत्कृष्ट सत्त्वमैत्री अहिंसाके विकसित रूप हैं। श्रमणसन्तोंने यही कहा कि एक मनुष्य किसी भूखण्डपर या अन्य भौतिक साधनोंपर अधिकार कर लेनेके कारण जगत्में महान् एतावता दूसरोंके निर्दलनका जन्मसिद्ध अधिकारी नहीं हो सकता। किसी वर्णविशेषमें उत्पन्न होनेके कारण दूसरोंका शासक या धर्मका ठेकेदार नहीं हो सकता। भौतिक साधनोंकी प्रतिष्ठा बाह्यमें कदाचित् हो भी पर धर्मक्षेत्रमें प्राणिमात्रको एक ही भूमिपर बैठना होगा, हरएक प्राणीको धर्मकी शीतल छायामें समान भावसे सन्तोषकी साँस लेनेका सुअवसर है। व्यक्ति आत्मसमत्व, वीतरागत्व या अहिंसाके विकाससे महान् हो सकता है न कि जगत्में विषमता फैलानेवाले हिंसक परिग्रहके संग्रहसे। आदर्श त्याग है न कि संग्रह। इस तरह जाति, वर्ण, रंग, देश, आकार, परिग्रहसंग्रह आदि विषमता और संघर्षके कारणोंसे परे होकर प्राणिमात्रको समत्व, अहिंसा और वीतरागताका पावन सन्देश इन श्रमणसन्तोंने उस समय दिया जब यज्ञ आदि क्रियाकाण्ड एक वर्णविशेषकी जीविकाके साधन बने हुए थे। स्वर्गके टिकिट कुछ गाय, सोना और स्त्रियोंकी दक्षिणासे प्राप्त हो जाते थे, धर्मके नामपर गोमेध, अजामेध क्वचित् नरमेध तकका खुला बाजार था, जातिगत उच्चत्व, नीचत्वका विष समाजगरीरको दग्ध कर रहा था, अनेक प्रकारसे सत्ताको हथियानेके षड्यन्त्र चालू थे। उस बबरे युगमें मानवसमत्व या प्राणिमैत्रीका उदारतम सन्देश इन युगधर्मी सन्तोंने नास्तिकताका मिथ्या लाल्छन सहते हुए भी दिया और भ्रान्त जनताको सच्ची समाज-रचनाका मूलमन्त्र बताया।

पर, यह अनुभवसिद्ध बात है कि अहिंसाकी स्थायी प्रतिष्ठा मनःशुद्धि और वचनशुद्धिके बिना नहीं हो सकती। हम भले ही शरीरसे दूसरे प्राणियोंकी हिंसा न करें पर यदि वचनव्यवहार और चित्तगत विचार विषम या विसंवादी हैं तो कायिक अहिंसा पल ही नहीं सकती। अपने विचार अर्थात् मतको पुष्ट करनेके लिए ऊँच-नीच शब्द बोले जायँगे और फलतः हाथापाईका अवसर आए बिना न रहेगा। भारतीय शास्त्रार्थोंका इतिहास अनेक हिंसाकाण्डोंके खूनी पन्नोंसे रँगा हुआ है। अतः यह आवश्यक था कि अहिंसाकी सर्वाङ्गीण प्रतिष्ठाके लिए विश्वका यथार्थ तत्त्वज्ञान हो और विचारशुद्धिमूलक वचनशुद्धिकी जीवन-व्यवहारमें प्रतिष्ठा हो। यह संभव ही नहीं है कि एक वस्तुके सम्बन्धमें परस्पर विरोधी मतवाद चलते रहें, अपने पक्षके समर्थनके लिए उचित, अनुचित शास्त्रार्थ होते रहें, पक्षप्रतिपक्षोंका संगठन हो, शास्त्रार्थमें हारनेवालेको तेलकी जलती कड़ाहीमें जीवित तल देने जैसी हिंसक होड़ें भी लगें, फिर भी परस्पर अहिंसा कायम रहे !

भगवान् महावीर एक परम अहिंसक सन्त थे। उनने देखा कि आजका सारा राजकारण धर्म और मतवादियोंके हाथमें है। जबतक इन मतवादोंका वस्तुस्थितिके आधारसे समन्वय न होगा तबतक हिंसाकी जड़ नहीं कट सकती। उनने विश्वके तत्त्वोंका साक्षात्कार किया और बताया कि विश्वका प्रत्येक चेतन और जड़ तत्त्व अनन्तधर्मोंका भण्डार है। उसके विराट् स्वरूपको साधारण मानव परिपूर्णरूपमें नहीं जान सकता। उसका क्षुद्रज्ञान वस्तुके एक-एक अंशको जानकर अपनेमें पूर्णताका दुरभिमान कर बैठा है। विवाद वस्तुमें नहीं है, विवाद तो देखनेवालोंकी दृष्टिमें है। काश, ये वस्तुके विराट् अनन्तधर्मात्मक या अनेकान्तात्मक स्वरूप की झाँकी पा सकते। उनने इस अनेकान्तात्मक तत्त्वज्ञानकी ओर मतवादियोंका ध्यान खींचा और बताया कि देखो, प्रत्येक वस्तु अनन्तगुण पर्याय और धर्मोंका अखण्ड पिण्ड है। यह अपनी अनाद्यनन्त सन्तानस्थितिकी दृष्टिसे नित्य है, कभी भी ऐसा समय नहीं आ सकता जब विश्वके रङ्गमञ्चसे एक कणका भी समूल विनाश हो जाय। साथ ही प्रतिक्षण उसकी पर्यायें बदल रही हैं, उसके गुण-धर्मोंमें सदृश या विसदृश परिवर्तन हो रहा है। अतः वह अनित्य भी है। इसी तरह अनन्त गुण, शक्ति, पर्याय और धर्म प्रत्येक वस्तुकी

निजी सम्पत्ति है। इनमेंसे हमारा स्वल्प ज्ञानलव एक-एक अंशको विषय करके क्षुद्र मतवादोंकी सृष्टि कर रहा है। आत्माको नित्य सिद्ध करनेवालोंका पक्ष अपनी सारी शक्ति आत्माको अनित्य सिद्ध करनेवालोंकी उखाड़पछाड़में लगा रहा है तो अनित्यवादियोंका गुट नित्यवादियोंको भला-बुरा कह रहा है। महावीरको इन मतवादियोंकी बुद्धि और वृत्तिपर तरस आता था। वे बुद्धकी तरह आत्मनित्यत्व और अनित्यत्व, परलोक और निर्वाण आदिको अव्यावृत्त कहकर बौद्धिक तन्मकी सृष्टि नहीं करना चाहते थे। उनने इन सभी तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप बताकर शिष्योंको प्रकाशमें लाकर उन्हें ज्ञानसमताकी समभूमिपर ला दिया। उनने बताया कि वस्तुको तुम जिस दृष्टिकोणसे देख रहे हो, वस्तु उतनी ही नहीं है उसमें ऐसे अनन्त दृष्टिकोणोंसे देखे जानेकी क्षमता है, उसका विराट् स्वरूप अनन्तधर्मात्मक है। तुम्हें जो दृष्टिकोण विरोधी मालूम होता है उसका ईमानदारीसे विचार करो वह भी वस्तुमें विद्यमान है। चित्तसे पक्षपातकी दुरभिसन्धि निकालो और दूसरेके दृष्टिकोणको भी उतनी ही प्रामाणिकतासे वस्तुमें खोजो वह वहीं लहरा रहा है। हाँ, वस्तुकी सीमा और मर्यादाका उल्लंघन नहीं होना चाहिए। तुम चाहो कि जड़में चेतनत्व खोजा जाय अथवा चेतनमें जड़त्व, तो नहीं मिल सकता। क्योंकि प्रत्येक पदार्थके अपने-अपने निजी धर्म निश्चित हैं। मैं प्रत्येक वस्तुको अनन्तधर्मात्मक कह रहा हूँ, सर्वधर्मात्मक नहीं। अनन्त धर्मोंमें चेतनके संभव अनन्त धर्म चेतनमें मिलेंगे तथा अचेतनगत संभव धर्म अचेतनमें। चेतनके गुणधर्म अचेतनमें नहीं पाए जा सकते और न अचेतनके चेतनमें। हाँ, कुछ ऐसे सामान्य धर्म भी हैं जो चेतन और अचेतन दोनोंमें साधारण रूपसे पाए जाते हैं। तात्पर्य यह कि वस्तुमें बहुत गुंजाइश है। वह इतनी विराट् है जो हमारे, तुम्हारे अनन्त दृष्टिकोणोंसे देखी और जानी जा सकती है। एक क्षुद्र-दृष्टिके आग्रहपूर्वक दूसरेकी दृष्टिका तिरस्कार करना या अपनी दृष्टिका अहंकार करना वस्तुके स्वरूपकी नासमझीका परिणाम है। हरिभद्रसूरिने लिखा है कि—

“आग्रहो वत निनोर्षति युक्ति तत्रयत्र मतिरस्य निविष्टा।

पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ॥”

अर्थात् आग्रही व्यक्ति अपने मतपोषणके लिए युक्तियाँ ढूँढ़ता है, युक्तियोंको अपने मतको ओर ले जाता है पर पक्षरहित मध्यस्थ व्यक्ति युक्तिसिद्ध वस्तुस्वरूप को स्वीकार करनेमें अपनी मतिकी सफलता मानता है। अनेकान्त दर्शन भी यही सिखाता है कि युक्तिसिद्ध वस्तुस्वरूपकी ओर अपने मतको लगाओ न कि अपने निश्चित मतकी ओर वस्तु और युक्तिकी खींचातानी करके उन्हें बिगाड़नेका दुष्प्रयास करो, और न कल्पनाकी उड़ान इतनी लम्बी लो जो वस्तुकी सीमाको ही लाँघ जाय। तात्पर्य यह कि मानस समताके लिए यह वस्तुस्थितिमूलक अनेकान्त तत्त्वज्ञान अत्यावश्यक है। इसके द्वारा इस नरतनधारीको ज्ञात हो सकेगा कि वह कितने पानीमें है, उसका ज्ञान कितना स्वल्प है, और वह किस दुरभिमानसे हिंसक मतवादका सर्जन करके मानवसमाजका अहित कर रहा है। इस मानस अहिंसात्मक अनेकान्त दर्शनसे विचारोंमें या दृष्टिकोणोंमें कामचलाऊ समन्वय या ढोला-ढीला समझौता नहीं होता किन्तु वस्तुस्वरूपके आधारसे यथार्थ तत्त्वज्ञानमूलक समन्वयदृष्टि प्राप्त होती है।

डॉ० सर राधाकृष्णन् ईंडियन फिलॉसफी (जिल्द १, पृ० ३०५-६) में स्याद्वादके ऊपर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं कि—“इससे हमें केवल आपेक्षिक अथवा अर्धसत्यका ही ज्ञान हो सकता है, स्याद्वादसे हम पूर्ण सत्यको नहीं जान सकते। दूसरे शब्दोंमें—स्याद्वाद हमें अर्धसत्त्वोंके पास लाकर पटक देता है और इन्हीं अर्धसत्त्वोंको पूर्णसत्य मान लेनेकी प्रेरणा करता है, परन्तु केवल निश्चित-अनिश्चित अर्धसत्त्वोंको मिलाकर एकसाथ रख देनेसे वह पूर्णसत्य नहीं कहा जा सकता। आदि।”

क्या सर राधाकृष्णन् यह बतानेकी कृपा करेंगे कि स्याद्वादने निश्चित-अनिश्चित अर्धसत्योंको पूर्ण-सत्य माननेकी प्रेरणा कैसे की है ? हाँ, वह वेदान्तकी तरह चेतन और अचेतनके काल्पनिक अभेदकी दिमागी दौड़में अवश्य शामिल नहीं हुआ, और न वह किसी ऐसे सिद्धान्तका समन्वय करनेकी सलाह देता है जिसमें वस्तुस्थितिकी उपेक्षा की गई हो। सर राधाकृष्णन्को पूर्णसत्य वह काल्पनिक अभेद या ब्रह्म इष्ट है जिसमें चेतन-अचेतन, मूर्त-अमूर्त सभी काल्पनिक रीतिसे समा जाते हैं। वे स्याद्वादकी समन्वयदृष्टिको अर्धसत्योंके पास लाकर पटकना समझते हैं। पर जब प्रत्येक वस्तु स्वरूपतः अनन्तधर्मात्मक है तब उस वास्तविक नतीजे-पर पहुँचने को अर्धसत्य कैसे कह सकते हैं। हाँ, वह उस प्रमाण-विरुद्ध काल्पनिक अभेदकी ओर वस्तुस्थिति-मूलक दृष्टिसे नहीं ले जा सकता। वैसे संग्रहनयकी एक चरम अभेदकी कल्पना जैनदर्शनकारोंने भी की है और उस परमसंग्रहनयकी अभेददृष्टिसे बताया है कि 'सर्वमेकं सदविशेषात्' अर्थात् जगत् एक है, सद्रूपसे चेतन और अचेतनमें कोई भेद नहीं है। पर यह एक कल्पना है क्योंकि ऐसा एक सत् नहीं है जो प्रत्येक मौलिक द्रव्यमें अनुगत रहता हो। अतः यदि सर राधाकृष्णन्को चरम अभेदकी कल्पना ही देखनी हो तो वे परमसंग्रहनयके दृष्टिकोणमें देख सकते हैं, पर वह केवल कल्पना होगी, वस्तुस्थिति नहीं। पूर्णसत्य तो वस्तुका अनेकान्तात्मक रूपसे दर्शन ही है न कि काल्पनिक अभेदका दर्शन।

इसी तरह प्रो० बलदेव उपाध्याय इस स्याद्वादसे प्रभावित होकर भी सर राधाकृष्णन्का अनुसरण-कर स्याद्वादको मूलभूततत्त्व (एक ब्रह्म ?) के स्वरूपकके समझनेमें नितान्त असमर्थ बतानेका साहस करते हैं। इनने तो यहाँ तक लिख दिया है (भारतीय दर्शन, पृ० १७३) कि "इसी कारण यह व्यवहार तथा परमार्थके बीच तत्त्वविचारको कतिपय क्षणके लिए विस्मय तथा विराम देनेवाले विश्रामगृहसे बढ़कर अधिक महत्त्व नहीं रखता।" आप चाहते हैं कि प्रत्येक दर्शनको उस काल्पनिक अभेद तक पहुँचना चाहिए। पर स्याद्वाद जब वस्तु विचार कर रहा है तब वह परमार्थ सत् वस्तुकी सीमाको कैसे लाँघ सकता है ? ब्रह्मकवाद न केवल युक्तिविरुद्ध ही है पर आजके विज्ञानसे उसके एकीकरणका कोई वास्तविक मूल्य सिद्ध नहीं होता। विज्ञानने एटमक विश्लेषण किया है और प्रत्येककी अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है। अतः वस्तुकी अनेकान्तात्मक सीमापर पहुँचाकर यदि स्याद्वाद बुद्धिको विराम देता है तो यह उसका भूषण ही है। दिमागी अभेदसे वास्तविक स्थितिकी उपेक्षा करना मनोरञ्जनसे अधिक महत्त्वकी बात नहीं हो सकती।

इसी तरह श्रीयुत हनुमन्तराव एम० ए० ने अपने एक लेखमें लिखा है कि स्याद्वाद सरल समझतेका मार्ग उपस्थित करता है, वह पूर्णसत्यतक नहीं ले जाता आदि। ये सब एकही प्रकारके विचार हैं, जो स्याद्वादके स्वरूपको न समझनेके या वस्तुस्थितिकी उपेक्षा करनेके परिणाम हैं। मैं पहिले लिख चुका हूँ कि महावीरने देखा कि—वस्तु तो अपने स्थानपर अपने विराट् रूपमें प्रतिष्ठित है उसमें अनन्तधर्म जो हमें परस्पर विरोधी मालूम होते हैं, अविच्छिन्न भावसे विद्यमान हैं, पर हमलोगों की दृष्टिमें विरोध होनेसे उसकी यथार्थ स्थितिकी नहीं समझ पा रहे हैं। जैनदर्शन वास्तवमें बहुत्ववादी है। वह दो पृथक् सत्ता वस्तुओंको व्यवहारके लिए कल्पनासे अभिन्न कह भी दे पर वस्तुकी निजी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करना चाहता। जैनदर्शन एक व्यक्तिका अपने गुण-पर्यायोंसे वास्तविक अभेद मानता है पर दो व्यक्तियोंमें अवास्तविक अभेदको नहीं मानता। इस दर्शनकी यही विशेषता है जो यह परमार्थसत् वस्तुकी परिधिकी नहीं लाँघकर उसकी सीमामें ही विचार करता है। और मनुष्योंको कल्पनाकी उड़ानसे विरतकर वस्तुकी ओर देखनेको बाध्य करता है। जिस चरम अभेदतक न पहुँचनेके कारण अनेकान्तदर्शनको सर राधाकृष्णन् जैसे विचारक अर्धसत्यों का समुदाय कहते हैं उस चरम अभेदकी भी अनेकान्तदर्शन एक-व्यक्तिका एक धर्म मानता है वह उन अभेद कल्पकोंको कहता है कि वस्तु इससे भी बड़ी है अभेद तो उसका एक धर्म है। दृष्टिको और उदार तथा

विशाल करके वस्तुके पूर्णरूपको देखो उसमें अभेद एक कोनेमें पड़ा होगा और अभेदके अनन्तों भाई-बन्धु उसमें तादात्म्य ही रहे होंगे । अतः इन ज्ञानलवधारियोंको उदारदृष्टि देनेवाले तथा वस्तुकी झाँकी दिखाने-वाले अनेकान्त दर्शनने वास्तविक विचारकी अन्तिम रेखा खींची है । और यह सब हुआ है मानस समतामूलक तत्त्वज्ञानकी खोजमें । जब इस प्रकार वस्तुस्थिति ही अनेकान्तमयी या अनन्तधर्मात्मिका है तब सहज ही मनुष्य यह सोचने लगता है कि दूसरा वादी जो कह रहा है उसकी सहानुभूतिसे समीक्षा होनी चाहिए और वस्तुस्थितिमूलक समीकरण होना चाहिए । इस स्वीयस्वल्पता और वस्तु-अनन्तधर्मताके वातावरणसे निरर्थक कल्पनाओंका जाल टूटेगा और अहंकारका विनाश होकर मानससमताकी सृष्टि होगी, जो अहिंसाका संजीवन-बीज होगा ।

इस तरह मानससमताके लिए अनेकान्तदर्शन ही एकमात्र स्थिर आधार हो सकता है । जब अनेकान्त-दर्शनसे विचारशुद्धि हो जाती है तब स्वभावतः वाणीमें नम्रता और परसमन्वयकी वृत्ति उत्पन्न हो जाती है । वह वस्तुस्थितिको उल्लंघन करनेवाले शब्दका प्रयोग ही नहीं कर सकता । इसीलिए जैनाचार्योंने वस्तुकी अनेकधर्मात्मकताका द्योतन करनेके लिए 'स्यात्' शब्दके प्रयोगकी आवश्यकता बताई है । शब्दोंमें यह सामर्थ्य नहीं है जो वस्तुके पूर्णरूपको युगपत् कह सके । वह एक समयमें एक ही धर्मको कह सकता है । अतः उसी समय वस्तुमें विद्यमान शेष धर्मोंकी सत्ताका सूचन करनेके लिए 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया जाता है । 'स्यात्' के 'मुनिश्चित दृष्टिकोण', 'निर्णीत अपेक्षा' ये ही अर्थ हैं 'शायद, संभव, कदाचित्' आदि नहीं । 'स्यादस्ति' का वाच्यार्थ है 'स्वरूपादिकी अपेक्षासे वस्तु है ही' न कि 'शायद है' 'संभव है' या 'कदाचित् है' आदि । संक्षेपतः अनेकान्तदर्शन जहाँ चित्तमें समता, मध्यस्थभाव, वीतरागता, निष्पक्षपातताका उदय करता है वहाँ स्याद्वाद वाणीमें निर्दोषता लानेका पूरा अवसर देता है । इस तरह अहिंसाकी परिपूर्णता और स्थायिताकी प्रेरणाने मानसशुद्धिके लिए अनेकान्तदर्शन और वचनशुद्धिके लिए स्याद्वाद जैसी निधियोंको भारतीय संस्कृतिके कोषागारमें दिया । बोलते समय वक्ताको सदा यह ध्यान रहना चाहिए कि जो वह बोल रहा है वस्तु उतनी ही नहीं है वस्तु बहुत बड़ी है उसके पूर्णरूपतक शब्द नहीं पहुँच सकते । इसी भावको जतानेके लिए वक्ता 'स्यात्' शब्दका प्रयोग करता है । 'स्यात्' यह शब्द विधिलिङ्में निष्पन्न होता है जो अपने वक्तव्यको निश्चित रूपमें उपस्थित करता है न कि संशय रूपमें । जैन तीर्थंकरोंने इस तरह सर्वाङ्गीण अहिंसाकी साधनाका वैयक्तिक और सामाजिक दोनों प्रकारका प्रत्यक्षानुभूत मार्ग बताया । उनमें पदार्थोंके स्वरूपका यथार्थ निरूपण तो किया ही, साथ ही साथ पदार्थोंके देखनेका, उनके ज्ञान करनेका, उनके स्वरूपको वचन से कहनेका नया वस्तुस्पर्शी तरीका बताया । इस अहिंसक दृष्टिसे यदि भारतीय दर्शनकारोंने वस्तुका निरीक्षण किया होता तो भारतीय जल्पकथाका इतिहास रक्तंरजित न हुआ होता, और धर्म तथा दर्शनके नाम पर मानवताका निर्दलन नहीं होता । पर अहंकार और शासनभावना मानवको दानव बना देती है । फिर धर्म और सत्ताका 'अहम्' अतिदुर्निवार होता है । परन्तु युगयुगमें ऐसे ही दानवोंको मानव बनानेके ही लिए अहिंसक सन्त इसी समन्वयदृष्टि, इसी समताभाव और इसी सर्वाङ्गीण अहिंसाका सन्देश देते आए हैं । यह जैनदर्शनकी विशेषता है । जो वह अहिंसाकी तह पहुँचनेके लिए केवल धार्मिक उपदेश तक ही सीमित नहीं रहा अपितु वास्तविक स्थितिके आधारसे दार्शनिक गुत्थियोंको सुलझाने की मौलिकदृष्टि भी खोज सका । न केवल दृष्टि ही किन्तु मन, वचन और काय तीनों द्वारोंसे होनेवाली हिंसाको रोकनेका प्रशस्ततम मार्ग भी उपस्थित कर सका ।

आज डॉ० भगवानदासजी जैसे मनीषी समन्वय और सब धर्मोंकी मौलिक एकताकी आवाज बुलन्द कर रहे हैं । वे वर्षोंसे कह रहे हैं कि समन्वयदृष्टि प्राप्त हुए बिना स्वराज्य स्थायी नहीं हो सकता, मानव

मानव नहीं रह सकता। उन्होंने अपने 'समन्वय' और 'दर्शनका प्रयोजन' आदि ग्रन्थोंमें इसी समन्वयतत्त्वका भूरि-भूरि प्रतिपादन किया है। जैन ऋषियोंने इस समन्वय (स्याद्वाद) सिद्धान्त पर ही संख्याबद्ध ग्रन्थ लिखे हैं। इनका विश्वास है कि जबतक दृष्टिमें समीचीनता नहीं आयगी तबतक झगड़े और संघर्ष बने रहेंगे। नये दृष्टिकोणसे वस्तुस्थितिक पहुँचना ही जीवको विसंवादसे हटाकर उसे संवादी बना सकता है। यही जैनदर्शनकी भारतीय संस्कृतिको देन है। आज हमें जो स्वातन्त्र्यके दर्शन हुए वह इसी अहिंसाका पुण्य फल है, और विश्वमें भारतका मस्तक यदि कोई ऊँचा रख सकता है तो यह निरूपाधि अहिंसा भावना ही।

